भारत का राजनीतिक दर्शन

शंकर शरण*

अनेक विदेशी विद्वान भारत को आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत सभ्यता मानते हुए राजनीतिक क्षेत्र में सदा से दुर्बल देश मानते हैं। यह एक भ्रांति है। वस्तुतः, लगभग तीन हज़ार वर्ष पहले भी भारत में सुव्यवस्थित राजनीतिक व्यवस्था रही है। इसमें गणतंत्र, लोकतंत्र और राजतंत्र जैसे विविध रूपों के प्रमाण मिलते हैं। संपूर्ण भारत का राजनीतिक एकीकरण यहाँ कभी आवश्यक नहीं समझा गया था। इसके कई कारण थे। जैसे–आध्यात्मिक, सांस्कृतिक जीवन-दर्शन की प्रमुखता, राजनीति का गौण स्थान, भौगोलिक रूप से भारत की पारंपरिक सुरक्षित स्थिति, आदि। इन्हीं कारणों से हाल की शताब्दियों में विदेशी आक्राँताओं द्वारा भारत के विविध क्षेत्रों पर कब्ज़ा कर लेना संभव हुआ। किंतु इसी से भारत के राजनीतिक दर्शन को सदा से हीन मानना भ्रामक है। श्री अरविन्द के विचारों पर आधारित यह लेख इसी बिंदु पर एक संक्षिप्त प्रस्तुति है।

बहुत-से लोग यह तो मानते हैं कि अध्यात्म, योग, आत्मा और मन जैसे गूढ़ विषयों में भारत की उपलब्धि महान रही है। किंतु वे व्यावहारिक जीवन, विशेषकर राजनीति और प्रशासन में भारत को विफ़ल बताते हैं। उनका मत है कि यूरोप की तुलना में भारत अपने राज्य, शासन और प्रजा के जीवन को सुगठित करने में बहुत दुर्बल साबित हुआ है। इसके लिए लगभग एक हज़ार वर्ष की विदेशी पराधीनता को प्रमाण के रूप में देखा-दिखाया जाता है।

(लेखक के अपने विचार)

यह सच है कि किसी संस्कृति की पहली मूल्यवत्ता मानव की आंतरिक सत्ता अर्थात मन, अंतरात्मा और चेतना को उन्नत और विशाल बनाने की उसकी क्षमता में निहित है। किंतु निस्संदेह उसे सफल नहीं कहा जा सकता जब

**असिस्टेंट प्रोफ़ेसर*, सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी., नयी दिल्ली

तक वह बाह्य सत्ता उसके सामाजिक, राजनीतिक और भौतिक जीवन को भी गढ़कर महान आदर्शों की ओर अग्रसर होने के योग्य नहीं बनाती।

अत: प्रथम दृष्टि में ऐसा लग सकता है कि भारत का ज्ञान, हमारे महान पूर्वजों की मेधा हमें राजनीतिक रूप में सबल बनाने में विफल रही, क्योंकि हमें तरह-तरह के विदेशी आक्रमणकारियों से पराजित होना पड़ा। इतना ही नहीं, समय-समय पर देश के न्यूनाधिक भागों को अरबों, तुर्कों, मंगोलों और अंग्रेजों के अधीन भी रहना पड़ा। इस पर विवाद हो सकता है कि संपूर्ण भारत पर कभी किसी विदेशी सत्ता का अधिकार नहीं हो सका। यह भी कहा जाता है कि कई विदेशी अंतत: भारतीय समाज में समाहित होकर यहीं के हो गए, कि भारतीय संस्कृति ने उन्हें नैतिक रूप से अभिभूत या पराभूत कर लिया, आदि। परंतु उत्तर-पश्चिम भारत का बड़ा हिस्सा विदेशी साम्राज्यवादियों के हाथ में चला गया, इस सत्य से आँखें नहीं मूँदी जा सकतीं।

फिर भी, सरसरी तौर पर भारत को बाह्य-जीवन का संगठन करने में विफ़ल बताना दोषपूर्ण है। यह भूतकाल का पर्याप्त ज्ञान न होने के कारण होता है। यह सच है कि भारत ने उस प्रतिद्वंद्वितापूर्ण और उत्पीड़क व्यवसायवाद का या स्वाधीनता और ढोंगपूर्ण जनतंत्र के संसदीय संगठन का विकास कभी नहीं किया जो यूरोपीय सभ्यता के हाल के बुर्जुआ या वैश्य-युग की विशेषताएँ हैं। पर यह भी सच है कि यूरोपीय उन्नति के मॉडल की अंध-प्रशंसा अब कम हो रही है और दिनों-दिन इसकी भयंकर त्रुटियाँ उजागर हो रही हैं। अत: भारतीय सभ्यता की महानता को पश्चिमी प्रगति के मानदंड से नापने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यद्यपि पश्चिमी परिभाषाओं का प्रयोग करने पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय शासन प्रणाली में जनतंत्र का शक्तिशाली तत्व विद्यमान था। यहाँ तक कि ऐसी सभा-परिषदें भी थीं जो यूरोपीय पार्लियामेंट-पद्धति से साम्य प्रदर्शित करती हैं। परंतु ये विशेष तत्व भारत के अपने ढंग के थे। यह बिलकुल वह चीज़ नहीं थी जैसी कि आधुनिक संसदें और निर्वाचित जनतंत्र हैं। भारतीय राज्यतंत्र में लोक-भागीदारी अधिक सशक्त थी क्योंकि यह किसी राजा या सम्राट की इच्छा के अधीन या उसकी देन भी नहीं थी। भारतीय समाज का संपूर्ण संगठन एक सर्वोपरि धर्म-चेतना और धर्म-व्यवहार के अधीन रहा जिसमें राजा और प्रजा दोनों ही आते थे।

भारतवासियों के मन में प्राचीन काल से ही एक धार्मिक और आध्यात्मिक प्रवृत्ति की प्रधानता रही है। भारतीय मानस की एक विशेषता रही है कि वह जीवन के सभी पक्षों, अत्यंत बाह्य सामाजिक और राजनीतिक व्यापारों को भी आध्यात्मिक अर्थ प्रदान करने और उनके लिए धर्म का अनुमोदन प्राप्त करने का यत्न करता था। यह सभी वर्गों और कार्यों के लिए एक अनिवार्य आदर्श की स्थापना करता था, जो कुछ प्रसंगों को छोड़कर अधिकारों और शक्तियों का नहीं, कर्तव्यों का आदर्श होता था। यह सदाचरण, कर्तव्यनिष्ठा ही यहाँ धर्म कहलाती रही है, न कि किन्हीं जड़-सूत्रों पर विश्वास। पश्चिमी

रिलीजन (Religion) से भारत का धर्म मूलभूत रूप से भिन्नार्थक है।

उसी धर्म और अध्यात्म प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप यहाँ समाज-व्यवस्था के शिखर पर ब्राह्मण, पुरोहित, पंडित, वेदज्ञानी और विधानकारों का स्थान रहा। इसे मनुष्यों के किसी वर्ग का प्रभाव समझना भूल होगी। इसे एक ज्ञानपरक और आचरणपरक धर्म के सर्वोपरि स्थान के रूप में समझना चाहिए। ज्ञान और आचरण रूपी इस धर्म भाव को जैसी सुनिश्चितता, स्थायित्व और महत्ता प्रदान की गई, वह विश्व में कहीं देखने में नहीं आती। जिन देशों में लोगों का मनोभाव भारत की अपेक्षा कम जटिल है, वहाँ इस प्रकार की प्रधानता का परिणाम संभवत: यह होता कि पंडित-पुरोहितों का ही राज कायम हो जाता।[1] किंतु भारत में यद्यपि ब्राह्मणों का प्रभाव बढ़ता गया, फिर भी उन्होंने राज्यसत्ता पर कभी अपना अधिकार नहीं जमाया अथवा न जमा सके। राजा और प्रजा दोनों के अतिसम्मानित पुरोहितों और गुरुओं के रूप में उनका निश्चय ही बड़ा प्रभाव था, किंतु वास्तविक राज्यशक्ति राजा, क्षत्रिय वर्ग और जनसाधारण के हाथों में बनी रही।

बीच में एक ऐसा समय आया जब ऋषि को एक विशिष्ट और असाधारण पद दिया जाता था। ऋषि उस व्यक्ति को कहते थे जो उच्चतर आध्यात्मिक अनुभव और ज्ञान से संपन्न होते थे। वे किसी भी वर्ण में उत्पन्न हुए हो सकते थे (वशिष्ठ, परशुराम, व्यास, विदुर, आदि), पर अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व के बल पर सभी लोगों पर प्रभुत्व रखते थे। यह प्रभुत्व राजनीतिक नहीं, मुख्यत: नैतिक था। साथ ही, यह राजनीतिक सत्ता के प्रति प्रतियोगी या नियंत्रणकारी भाव से सर्वथा मुक्त था। रामायण और महाभारत के आख्यानों में इसे देखा जा सकता है। पूरी समाज व्यवस्था एक नैतिक सामंजस्य के साथ स्वत: संचालित थी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और वर्ग के कर्तव्य, अधिकार और सीमाएँ दूसरे के साथ प्रतिद्वंद्विता में नहीं वरन सामंजस्य में स्थापित थीं।

दुर्भाग्य से प्राचीन भारतीय समाजों, राज्यों, गणराज्यों के संविधान और राज्य-तंत्र के विस्तृत विवरण हमारे पास नहीं हैं। उनके व्यवस्थित इतिहास से भी हम अनभिज्ञ हैं। इसका कारण यह है कि पश्चिमी यूरोपीय मानसिकता के विपरीत भारतीय मानसिकता इन ब्यौरों, तफ़सीलों को तनिक भी महत्त्वपूर्ण नहीं समझती थी। इसीलिए राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि जीवन का विवरण तैयार करना और उसे संजोकर रखना हमारे महान पूर्वजों से लेकर आज तक भी हमारा मानस उपयोगी नहीं समझता। इसके पीछे भी तत्व-ज्ञान और सदाचरण को सर्वोपरि महत्ता देने वाली धर्म-चेतना ही है जो ऐसे कार्य को वह महत्त्व नहीं देती जो पश्चिमी मानसिकता देती है। फिर भी, तरह-तरह के अन्य विवरणों, आख्यानों, अभिलेखों, पुरातत्वों और विदेशियों द्वारा लिखित वर्णनों से इसके पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि भारत का राजनीतिक संगठन उत्कृष्ट कोटि का था।

उदाहरण के लिए गौतम बुद्ध का एक मनोरंजक वचन मिलता है कि जब तक प्रजातांत्रिक संस्थाओं को उनके शुद्ध और

बलशाली रूप में सुरक्षित रखा जाएगा तब तक इस प्रकार एक छोटा-सा राज्य भी मगध के शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी राजतंत्र के शस्त्रास्त्रों से भी अजेय रहेगा।[2] भारत में ऐसे सुदृढ़ और व्यवस्थित गणराज्य प्राचीन काल में ही स्थापित हो चुके थे और ईसा से पूर्व की छठी शताब्दी में पूरे ज़ोर-शोर से कार्यशील थे। अर्थात वे यूनान के प्रसिद्ध नगर-राज्यों के समकालीन थे, पर भारतीय गणराज्यों की वह स्वाधीनता, प्रतिष्ठा और कार्यशीलता ईसा की आरंभिक शताब्दियों तक, अर्थात दीर्घ काल तक बनी रही। जबकि यूनानी राज्य जल्द ही समाप्त हो गए थे।

वस्तुत: भारत ने राजनीतिक एकीकरण की आवश्यकता का कभी अनुभव ही नहीं किया था। तीन ओर से समुद्र और उत्तर में हिमालय से आच्छादित भारतवर्ष को सहस्त्राब्दियों तक किसी नितांत विजातीय आततायी या विस्तारवादी, सर्वनाशकारी शत्रु से सुरक्षित करने की कभी आवश्यकता ही नहीं हुई थी। सिकंदर के आक्रमण के बाद पहली बार भारत ने एकीकृत शक्ति की आवश्यकता का अनुभव किया था। तब महसूस किया गया कि हमारे प्रजातांत्रिक गणराज्य ही देश के विभिन्न भागों के बीच विभाजन के कारण थे। अपने-आप में शक्तिशाली, स्वाभिमानी होते हुए भी वे संपूर्ण भारतवर्ष प्रायद्वीप के सचेत संगठन के लिए कुछ न कर सके। संभवत: प्राचीन काल में इतने विशाल प्रायद्वीप में छोटे-छोटे राज्यों के महासंघ की कोई व्यवस्था सफल हो भी नहीं सकती थी विशेषकर जब इसकी आवश्यकता का कोई स्पष्ट कारण सबके सामने स्पष्ट न था।

यद्यपि समय के साथ अन्य देशों की तरह भारत में भी राजतंत्रात्मक राज्य-प्रणाली ही उन्नत होती गई। राजनीतिक संगठन के अन्य रूप पदच्युत होते गए। फिर भी मुसलमानों के आक्रमण से पहले तक भारतीय राजतंत्र किसी प्रकार भी एक व्यक्ति का स्वेच्छाचारी शासन या निरंकुश तानाशाही नहीं था। फ़ारस, मध्य एशिया, रोम या यूरोप के राजतंत्रों से इसका कोई साम्य न था। पठानों या मुगलों के शासनतंत्र से यह बिलकुल ही भिन्न प्रकार का था। यहाँ राजा की शक्ति व्यक्तिगत नहीं होती थी। तरह-तरह के संरक्षणों से यह परिवेष्टित रखा जाता था ताकि राजा इसका दुरूपयोग न कर सके।

भारत में राजा के अतिरिक्त अन्य सार्वजनिक अधिकारियों और विभिन्न हितों के प्रतिनिधियों की स्वाधीनता से भी राजा की शक्ति सीमा में रहती थी। (उदाहरण के लिए गुरुकुल और आश्रमों की नितांत स्वाधीनता, जिनकी रक्षा राजा का कर्तव्य होता था) इस प्रकार, समाज के अन्य अधिकारी और प्रतिनिधि शासन-विधान के चालन और प्रभुता के प्रयोग में एक तरह से सहभागी होते थे। सच पूछें तो राजा एक सीमाबद्ध या संवैधानिक राजा होता था। जिस विचार और मशीनरी द्वारा राज्य के संविधान की रक्षा की जाती थी, राजा अपने अधिकारों का उपयोग करता था, और उसकी शक्ति सीमा में रहती थी-यह सब उससे बिलकुल भिन्न

प्रकार की थी जो यूरोप के इतिहास में पायी जाती है।

यहां राजा और सम्राटों से भी ऊपर था धर्म, अर्थात धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक, न्यायिक और प्रथानुगत विधान जो लोगों के जीवन को मूलत: परिचालित करता था। इस निर्वैयक्तिक धर्म-सत्ता को इसके मूल भाव में तथा बाह्य रूप की समष्टि में पवित्र और सनातन माना जाता था। इसका मूल स्वरूप सदा एक ही रहता था ('एसो धम्मो सनंतनो'-बुद्ध), पर समाज के विकास के कारण इसके प्रत्यक्ष आकार में सहज-स्वाभाविक रूप से जो परिवर्तन आते थे उन्हें इसमें समाविष्ट कर लिया जाता था। देश, कुल सापेक्ष तथा अन्य आचार-धर्म इसकी देह के एक प्रकार के गौण और सहचारी अंग थे जिनमें केवल आंतरिक प्रेरणा से ही परिवर्तन होता था। मूल धर्म में हस्तक्षेप करने का किसी लौकिक सत्ता को निरंकुश अधिकार न था।

इस प्रकार, भारत में राजा का काम मनमाने नियम, कानून या दंड-विधान बनाने से अलग केवल धर्म की रक्षा करने का था। वह धर्म का रक्षक, परिचालक और सेवक होता था। उसका दायित्व ही था कि वह धर्म का पालन करवाए तथा हर प्रकार के अपराध उच्छृंखलता और धर्मोल्लंघन को रोके। चूँकि यह धर्म यूरोप के किताबी रिलीज़न से नितांत भिन्न था-सबके लिए आचरण की मर्यादा, न कि संगठित चर्च जैसे मज़हबी संस्थानों द्वारा घोषित सुनिश्चित विश्वासों का अंध-अनुपालन कराया जाना-इसीलिए भारतीय राजनीतिक प्रणाली में धार्मिक अत्याचार और असहिष्णुता के लिए कोई स्थान नहीं था। वस्तुत: जड़-सूत्रों और अंधविश्वास पर आधारित किसी प्रणाली की यहाँ कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। इसीलिए यहाँ राज्य या राज्यतंत्रीय अत्याचार, उत्पीड़न या स्वेच्छाचारिता का अस्तित्व नगण्य रहा है, जो यूरोप तथा अन्य देशों के इतिहास में सामान्य रूप से मिलता है।

भारत का नियम यह था कि यदि राजा भी धर्म को सच्चाई के साथ कार्यान्वित करना छोड़ दे तो प्रजा उसका पालन करने के लिए बाध्य नहीं होगी। प्रजा के संतोष के अनुसार शासन करने में अयोग्यता और अपने कर्तव्य का उल्लंघन उसे पदच्युत करने के लिए सिद्धांतत: और कार्यत: पर्याप्त कारण होते थे। मनु और कई अन्य स्मृतिकारों ने चरम कोटि की स्थिति में राजविद्रोह और राजा को मार डालने तक के अधिकार या कर्तव्य का समर्थन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि निरंकुश राजा या राजाओं को शासन करने के दैवी अधिकार का कोई सिद्धांत भारतीय राज्यप्रणाली में कभी न था। दक्षिण भारत में सत्रहवीं शताब्दी तक ऐसे दृष्टांत मिलते हैं जब किसी अप्रिय राजा को प्रजा ने संबंध-विच्छेद कर लेने की धमकी दी थी। उसमें सर्वसाधारण की सभा ने घोषित किया था कि उस राजा को दी गई कोई भी सहायता विश्वासघात के समान निंदनीय समझी जाएगी।[3] निकृष्ट राजा को पद से हटाने के और भी सामाजिक उपाय प्रचलित थे। संक्षेप में, भारत में राजतंत्र शासन का केवल एक

प्रकार था। इसके लिए भी जनता का अनुमोदन आवश्यक समझा जाता था।

उपर्युक्त विवरण अत्यंत संक्षिप्त है। जिन्हें और विस्तार से जानने की इच्छा हो, उन्हें श्री अरविन्द कृत प्रसिद्ध रचना *भारतीय संस्कृति के आधार तथा संपूर्ण महाभारत* पढ़नी चाहिए। वर्तमान भारत की स्थिति और पूर्व काल से इसके संबंध के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि एक मनुष्य के स्थूल जीवन की भांति किसी समाज का जीवन भी जन्म, वृद्धि, यौवन, प्रौढ़ता और ह्रास के चक्र से गुज़रता है। इसकी अंतिम अवस्था यदि बहुत आगे बढ़ जाए और इसकी ह्रासोन्मुखी धारा किसी प्रकार न रोकी जा सके तो समाज का जीवन भी उसी प्रकार नष्ट हो सकता है जैसे एक मनुष्य बुढ़ापे के बाद मर जाता है। अत: भारत के भविष्य के बारे में निर्णायक रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता।

किंतु इतना सत्य है कि मनुष्यों की प्रत्येक जाति में एक आत्म-भावना या जीवन-भावना काम करती है जो उसके अदद मनुष्यों के शरीर की अपेक्षा कम नश्वर है। अतएव जो जाति सजगता के साथ जीना सीख जाती है, वह संभवत: कभी भी नष्ट नहीं हो सकती। वह दूसरों में विलीन होकर समाप्त नहीं हो सकती। वह अपनी उसी चेतना के साथ बिना मरे कई नए जन्मों से गुज़र सकती है। कभी ऐसा लगे कि वह नष्ट होने वाली है, तब भी अपनी आत्मा की शक्ति से वह पूर्वावस्था प्राप्त कर एक दूसरा तथा संभवत: अधिक गौरवशाली चक्र आरंभ कर सकती है। भारत का इतिहास ऐसी ही एक जाति का इतिहास रहा है। हमें इसके बारे में अपने स्त्रोतों से अधिक-से-अधिक अध्ययन-मनन करना चाहिए। यह हमारी शिक्षा और सामाजिक उत्थान के लिए हितकारी होगा।

संदर्भ

1. श्री अरविन्द: भारतीय संस्कृति के आधार (श्री अरविन्द आश्रम, पुदुच्चेरी, 2002 संस्करण, पृ. 363), यह प्रसिद्ध लेख-माला विदेशी आलोचकों को उत्तर देने के लिए सन् 1918-21 के बीच लिखी गई थी। इस निबंध में प्रस्तुत विचार उसी से लिए गए हैं।
2. वही, पृ. 365.
3. वही, पृ. 371.